जनसत्ता

घाटी के घाव

जम्मू-कश्मीर में जन-जीवन सामान्य करने के लिए प्रतिबंध क्या हटने शुरू हुए, चरमपंथी गतिविधियों ने सिर उठाना शुरू कर दिया है। हालांकि इसकी आशंका पहले से थी। खूफिया सूचनाएं मिल रही थीं कि जैसे ही प्रतिबंध हटेंगे, वहां चरमपंथी गतिविधियां बढ़ सकती हैं। इसीलिए घाटी में कर्फ्यू हटाने और संचार सुविधाओं की बहाली में करीब ढाई महीने लग गए। मगर विपक्षी दल इस बात को लेकर सरकार पर हमलावर थे कि वह घाटी के लोगों के मूलभूत अधिकारों का हनन कर रही है। पाकिस्तान भी अंतरराष्ट्रीय मंचों पर गुहार लगाता फिर रहा था कि पूरे जम्मू-कश्मीर को एक जेल में तब्दील कर दिया गया है। वहां के लोगों का दमन हो रहा है। इसे देखते हुए सरकार ने चरणबद्ध तरीके से प्रतिबंध हटाने शुरू कर दिए। फिर वहां ब्लॉक विकास परिषद के चुनाव भी कराने की प्रक्रिया शुरू कर दी। अनुमान था कि इस तरह घाटी के लोग लोकतांत्रिक प्रक्रिया में लौटना शुरू कर देंगे और लोकतंत्र पर उनका भरोसा बढ़ेगा। मगर चरमपंथी संगठन जैसे पहले से तैयार बैठे थे कि मौका मिलते ही वे अपनी साजिशों को अंजाम देंगे। इसी का नतीजा है कि जम्मू-कश्मीर में कठुआ, पुलवामा, शोपियां, पुंछ, अनंतनाग आदि जगहों पर आतंकी सक्रियता बढ़ गई। उन्होंने शोपियां में एक फल बिक्रेता और पुलवामा में एक दिहाड़ी मजदूर की गोली मार कर हत्या कर दी।

घाटी में अनुच्छेद तीन सौ सत्तर हटने का विरोध अब नए ढंग से भी सुगबुगाने लगा है। वहां से आने वाली सेबों की खेप में सेबों पर पाकिस्तान के समर्थन और भारत के विरोध में नारे लिखे मिले। उन नारों में आतंकवादियों का समर्थन भी जताया गया था। हालांकि यह सेब किसानों या सामान्य फल विक्रेताओं का विरोध नहीं जान पड़ता। निश्चित रूप से इसके पीछे भी चरमपंथी गुटों का हाथ होगा। वहां सशस्त्र बलों का सख्त पहरा है, आतंकवादियों के लिए किसी बड़ी साजिश को अंजाम देना आसान नहीं है। इसलिए वे अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के मकसद से ऐसी हरकतें कर रहे हैं, जो उनकी खीज का पता देती हैं। शायद उन्हें लगता होगा कि इस तरह वे स्थानीय लोगों का समर्थन हासिल कर सकेंगे, पर यह भ्रम ही साबित होगा। मगर उनकी ये हरकतें सरकार और सशत्रबलों के लिए एहतियात बरतने के संकेत तो हैं ही।

जम्मू और लद्दाख संभाग में पहले भी कोई बड़ी चुनौती नहीं थी, सबसे बड़ी चुनौती कश्मीर में थी। वहीं पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों की पैठ हो पाती है और वे अशांति फैलाने का प्रयास करते हैं। हालांकि अलगाववादी संगठनों पर नकेल कसी जा चुकी है, विपक्षी राजनीतिक दलों की गतिविधियां भी शिथिल हैं, इसलिए उनके घाटी के आम लोगों को उकसाने की संभावना फिलहाल नहीं दिखती। पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वहां के युवाओं में एक प्रकार का आक्रोश दबा हुआ है। चरमपंथी और अलगाववादी ताकतों, कट्टरपंथी नेताओं के बहकावे में आकर वे पहले भी आजाद कश्मीर की मांग के साथ सड़कों पर उतरते रहे हैं। इसलिए विशेष राज्य का दर्जा समाप्त होने के बाद उनमें आक्रोश और बढ़ा है। वह फूटने का रास्ता तलाश रहा है। उसी को रोकने के प्रयास किए जाने जरूरी हैं। हालांकि सीमा पार से मिल रही मदद रुक जाने से वे अपने पांव नहीं पसार सकते, पर बाहरी मजदूरों, व्यापारियों, अधिकारियों आदि को निशाना बना कर अपना आक्रोश जाहिर करेंगे। अब सरकार और सुरक्षाबलों को इससे पार पाने पर ध्यान केंद्रित करने की जरूरत है।

भुखमरी की जकड़

किसी भी देश में आम नागरिकों की सेहत का स्तर यह बताता है कि वहां के विकास कार्यक्रमों में स्वास्थ्य के मुद्दे को कितनी प्राथमिकता मिल सकी है। लोगों की सेहत की स्थिति इस बात पर निर्भर है कि भरपेट और संतुलित भोजन तक उनकी कितनी पहुंच है। इस लिहाज से देखें तो विकास और अर्थव्यवस्था की रफ्तार बढ़ने के तमाम दावों के बीच भारत में अपेक्षित प्रगति संभव नहीं हो सकी है। गौरतलब है कि वैश्विक स्तर पर जारी हुए ताजा भुखमरी सूचकांक, 2019 के आंकड़ों में भारत की स्थिति काफी चिंताजनक है। दुनिया के एक सौ सत्रह देशों की सूची में भारत को एक सौ दो नंबर पर जगह मिल सकी है। जबकि पड़ोसी देश नेपाल, पाकिस्तान और बांग्लादेश को इस सूची में बेहतर जगह मिली है। इससे यही पता चलता है कि हमारे यहां बेशक विकास को मुख्यधारा की राजनीति का मुद्दा बनाने में कामयाबी मिली है, लेकिन इसके बुनियादी पहलुओं को केंद्र में रख कर जरूरी कदम नहीं उठाए गए या उन पर अमल नहीं किया गया। यह बेवजह नहीं है कि नेपाल, पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे पड़ोसी देश भी इस मामले में हमसे बेहतर स्थिति में पहुंच गए, जो अपनी बहुत सारी बुनियादी जरूरतों तक के लिए आमतौर पर भारत या फिर दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं।

यों ऐसे हालात लंबे समय से बने हुए हैं कि एक ओर रखरखाव के पर्याप्त इंतजाम और जरूरतमंदों तक पहुंच के अभाव में भारी पैमाने पर अनाज सड़ कर बर्बाद हो जाता है, दूसरी ओर देश में बड़ी तादाद ऐसे लोगों की है, जिन्हें पेट भरने लायक भोजन नहीं मिल पाता। इस मसले पर एक बार सुप्रीम कोर्ट को यहां तक कहना पड़ा था कि गोदामों में या उनके बाहर सड़ कर अनाज के बर्बाद होने से अच्छा है कि उसे गरीबों में मुफ्त बांट दिया जाए। लेकिन इस तल्ख रुख के बावजूद न सरकारों का रुख बदला, न इस मसले पर कोई नीतिगत पहलकदमी हुई। आज भी नीतियों और व्यवस्थागत कमियों की वजह से भारी पैमाने पर अनाज की बर्बादी होती है और कहीं बहुत सारे लोगों की थाली में जरूरत भर भी भोजन नहीं पहुंच पाता। अफसोस की बात है कि विकास के ब्योरों में इस समस्या को पर्याप्त जगह नहीं मिल पाती। यही वजह है कि जब विकास की संपूर्ण तस्वीर का आकलन होता है, तो उसमें हमारा देश काफी पीछे खड़ा दिखता है, जबकि अर्थव्यवस्था के साथ-साथ अन्य कसौटियों पर अपेक्षया कमजोर माने वाले हमारे कुछ पड़ोसी देशों ने इस मसले पर एक निरंतरता की नीति अपनाई और अपनी स्थिति में सुधार किया।

इसमें कोई शक नहीं कि दावों के मुताबिक सतह पर विकास की चमक दिखती है। लेकिन सच यह है कि देश में होने वाली तरक्की का लाभ मुख्य रूप से एक छोटा तबका ही उठा पा रहा है और बाकी लोग हाशिये के बाहर ही रह जाते हैं। अगर गरीबी और अमीरी के बीच खाई चौड़ी हो रही है तो इसका मुख्य कारण विकास का एक छोटे दायरे में सिमटा होना है। हालांकि देश में भूख और कुपोषण की समस्या से लड़ने के लिए अनेक योजनाएं हैं और समय-समय पर इसके लिए अभियान भी चलाए जाते हैं, लेकिन अगर भुखमरी के सूचकांक में देश की स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ी है तो इससे साफ है कि या तो नीतिगत स्तर पर कोई बड़ी खामी है या फिर इस मसले से पार पाने में राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव है।

कल्पमेधा

कल्पना ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान तो सीमित है, कल्पना संसार को घेर लेती है।
-अलबर्ट आइंस्टीन

रोजगार से दूर होती महिलाएं

ऋतु सारस्वत

भारत में एक तिहाई कंपनियां तो ऐसी हैं जहां कोई भी महिला कार्यरत नहीं है, जबकि इकहत्तर फीसद कंपनियों में महिलाओं की संख्या मात्र दस फीसद से भी कम है। महज चौबीस फीसद कंपनियां ऐसी हैं जहां महिलाओं और पुरुषों को बराबर का अधिकार दिया गया है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। अगर महिलाएं नौकरी में हैं भी, तो उनके सामने वे तमाम बाधाएं हैं जिनके चलते या तो वे खुद नौकरी छोड़ देती हैं या फिर निकाल दी जाती हैं। यह स्थिति कमोबेश दुनियाभर में एक जैसी है।

देश में समान योग्यता रखने के बावजूद महिलाओं की बेरोजगारी दर पुरुषों के मुकाबले दोगुनी है। यह खुलासा 'भारत में नियुक्ति में लैंगिक भेदभाव' नामक शोध में हुआ है। इसके मुताबिक शहरों में काम करने वाली योग्य शिक्षित महिलाओं में सत्तासी फीसद बेरोजगार हैं, जबकि पुरुषों में यह आंकड़ा मात्र चार फीसद है, जिनके पास काम नहीं है। 'फीमेल लेबर फोर्स पार्टिसिपेशन रेट (एलएफपीआर) 2017-18' की रिपोर्ट भी इस हकीकत को पुष्ट करती है। यह रिपोर्ट बताती है कि पिछले साल भारत में महिलाओं की रोजगार में शामिल होने की दर 23.3 फीसद के निचले स्तर पर थी। 2011-12 में पंद्रह से उनतीस वर्ष की कामकाजी महिलाओं की रोजगार में शमिल होने की दर में आठ फीसद की गिरावट हुई थी, जो 2017-18 में 16.4 फीसद हो गई। इसी तरह तीस से पचास वर्ष की महिलाओं में रोजगार की दर में सात फीसद की गिरावट देखने को मिली थी। स्पष्ट है कि तीस से पचास वर्ष की कामकाजी महिलाओं में तीन में से दो काम नहीं कर रही हैं। इनमें से ज्यादातर का कहना है कि वे गृहस्थी की जिम्मेदारियां निभा रही हैं।

लेकिन क्या परिवार का दायित्व ही महिलाओं की प्राथमिकता है, या फिर वे भी बाहर जाकर काम करना चाहती हैं। समाज और परिवार द्वारा निरंतर यह छवि गढ़ी जाती है कि महिलाएं स्वयं काम नहीं करना चाहतीं। लेकिन वास्तविकता इससे अलग है। जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि यदि महिलाओं के लिए रोजगार के रास्ते खुले हों तो घर में रहने वाली एक-तिहाई महिलाएं काम करना चाहेंगी। दरअसल, भारत ही नहीं विश्वभर में महिलाओं का संघर्ष दो तरफा है। एक ओर परिवार और दूसरी ओर रोजगार देने वाली सस्थाएं हैं जो उन्हें काम पर रखने की इच्छुक नहीं होतीं। भारत में सामाजिक मानक महिलाओं को लेकर आश्चर्यजनक रूप से रूढ़िवादी हैं। 2012 में हुए एक शोध में चौरासी फीसद भारतीयों ने इस बात पर सहमति जताई थी कि यदि रोजगार कम हो तो महिलाओं के बजाय पुरुषों को काम करने का अधिक अधिकार है। यह सोच हैरान नहीं करती क्योंकि आर्थिक स्वावलंबन पर आज भी पुरुषों का आधिपत्य माना जाता है और यह स्वीकारोक्ति घर और बाहर दोनों ही जगह है। यही कारण है कि पुरुष को नौकरी करने के लिए किसी से अनुमति नहीं लेनी पड़ती, जबकि लड़कियों और महिलाओं को काम करने, रोजगार योग्य नए कौशल सीखने के लिए अपने पिता, भाई या पति से अनुमति लेनी पड़ती है।

यह चिंताजनक विषय है कि समान शैक्षणिक स्तर और काबिलियत होने पर भी महिलाओं के पास रोजगार नहीं है। यह सवाल पैदा होना भी स्वभाविक है कि पिछले कुछ दशकों में जब शिक्षा तक महिलाओं की पहुंच बढ़ी है तो उनके पास रोजगार क्यों नहीं है। अध्ययन बताते हैं कि करीब अठहत्तर फीसद पात्र स्नातक महिलाएं संगठित कार्यबल का हिस्सा नहीं बनती हैं। ये वे महिलाएं हैं जो केवल सामाजिक कारणों से अपनी पढ़ाई पूरी करती हैं, न कि संगठित कार्यबल में भागीदार बनने की इच्छा के कारण। ये 'इच्छा' उस समाजीकरण की परिणति है जो स्त्री को यह विश्वास दिलाती है कि उसका जन्म परिवार की देखभाल के लिए ही हुआ है और पुरुष का कर्तव्य घर के लिए पैसे कमाना है।

यह तथ्य ही इस हकीकत को सत्यापित करने के लिए काफी है कि देश के सबसे प्रतिष्ठित संस्थान भारतीय प्रबंधन संस्थान (आइआइएम) अमदाबाद की लगभग पचास फीसद स्नातक लड़कियां काम नहीं कर रही हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा को दरकिनार करते हुए परिवार को प्राथमिकता दी। 'स्त्रियां होती ही ऐसी हैं, उनके लिए स्वयं की इच्छा कोई मायने नहीं रखती, अगर कुछ उनके लिए महत्त्वपूर्ण है तो घर-परिवार', निरंतर दोहराए गए ये वाक्य महिलाओं के इर्द-गिर्द सम्मोहन का ऐसा मायाजाल सदियों से बनाते आ रहे हैं कि वे स्वयं ही यह विश्वास करने लगती हैं कि उनका पहला और आखिरी दायित्व परिवार की देखभाल ही है। परिवार और बच्चों को संभालने का दबाव महिलाओं पर निरंतर बनाया जाता है। अगर महिलाएं उस दबाव का सामना करते हुए कार्यस्थल की राह चुनती हैं तो वहां भी उन्हें उसी असहयोगात्मक व्यवहार का सामना करना पड़ता है जो उन्हें अपने परिवार से मिलता है। कार्यस्थल पर उनके किए हर कार्य को संशय से देखा जाता है। अगर वे किसी कार्य में असफल हो जाएं तो उसे मानवीय भूल न मान कर 'स्त्री होने के कारण प्राप्त असफलता' की तथाकथित अवधारणा से जोड़ कर देखा जाता है। घर से लेकर कार्यस्थल पर निरंतर कसी जाने वाली कसौटी के चलते

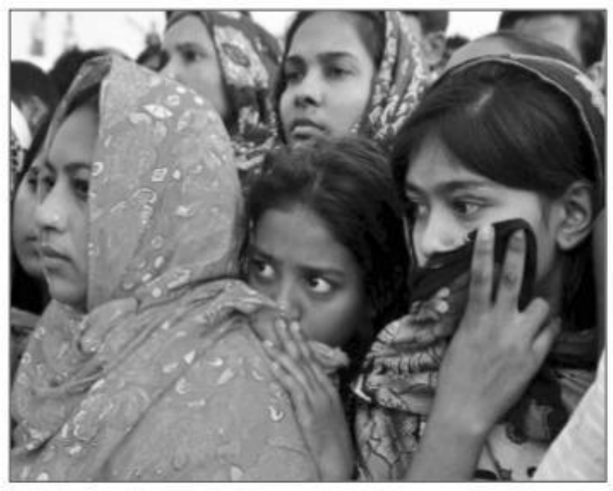

अधिकांश महिलाएं स्वयं ही अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्वप्न को तिलांजलि दे देती हैं।

हाल ही में हुए नेशनल सैंपल सर्वे की रिपोर्ट के मुताबिक तकनीकी प्रशिक्षण पाने के बाद रोजगार पाने में महिलाएं पुरुषों की तुलना में काफी पीछे हैं। आंकड़े बताते हैं कि तकनीकी प्रशिक्षण पाने वालों में करीब सत्तर फीसद युवक और अड़तीस फीसद महिलाओं को ही रोजगार मिल पाता है। ऐसा इसलिए होता है कि कंपनियां ही महिलाओं को काम पर रखना नहीं चाहतीं। भारत में एक तिहाई कंपनियां तो ऐसी हैं जहां कोई भी महिला कार्यरत नहीं है, जबकि इकहत्तर फीसद कंपनियों में महिलाओं की संख्या मात्र दस फीसद से भी कम है। महज चौबीस फीसद कंपनियां ऐसी हैं जहां महिलाओं और पुरुषों को बराबर का अधिकार दिया गया है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। अगर महिलाएं नौकरी में हैं भी, तो उनके सामने वे तमाम बाधाएं हैं जिनके चलते या तो वे खुद नौकरी छोड़ देती हैं या फिर निकाल दी जाती हैं। यह स्थिति कमोबेश दुनियाभर में एक जैसी है।

पिछले साल अक्तूबर में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइएमएफ) ने बताया था कि 'स्वचालन' जैसी नई प्रौद्योगिकियों ने वैश्विक स्तर पर महिलाओं से जुड़ी लगभग अठारह करोड़ नौकरियों को खतरे में डाल दिया है। 'हाई पोटेंशियल अंडर हाई प्रेशर इन इंडिया टेक्नोलॉजी सेक्टर' की रिपोर्ट बताती है कि भारत में उच्च क्षमता वाले पुरुष और महिलाएं एक समान स्तर पर शुरू करते हैं, लेकिन समय के साथ महिलाओं के लिए लिंगभेद उभर रहा है। जो कम कमाती हैं, कम विकास के अवसर प्राप्त करती हैं, जो प्रगति के लिए आगे बढ़ती हैं और पुरुषों की तुलना में घर पर अधिक जिम्मेदारियों का सामना करती हैं, उन्हें पीछे धकेल दिया जाता है। महिलाओं का मां बनना कंपनियों को नुकसान का सौदा दिखाई पड़ता है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट में साफ कहा गया है कि जब महिलाओं ने अपनी गर्भावस्था का जिक्र अपने मैनेजर या सहकर्मियों से किया तो उन्होंने पाया कि उन्हें कैरियर में प्रोत्साहन दिए जाने की दर में कमी आई।

बंगलुरु में नई कंपनियों और छोटी कंपनियों के सर्वे में यह बात सामने आई कि छियालीस फीसद कंपनियों ने पिछले डेढ़ साल में ज्यादातर पुरुष कर्मियों की ही बहाली की। वहीं इसी तरह के एक अध्ययन में इस बात का खुलासा हुआ कि 2004-05 से 2011-12 के दौरान अट्ठाईस लाख महिलाओं को नौकरी से निकाल दिया गया। संशोधित मातृत्व लाभ अधिनियम के बाद एक साल में ही ग्यारह से अठारह लाख महिलाओं की नौकरी चली गई।

यह तय है कि जब तक महिलाओं पर परिवार और नौकरी में से किसी एक को चुनने का दबाव रहेगा, तब तक महिलाएं नौकरियों से दूर होती रहेंगी। आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन का सुझाव है कि बच्चों की देखभाल के लिए दी जाने वाली मदद से महिलाओं के कामकाजी होने की संभावना बढ़ जाएगी। एसोचैम के सुझावों के मुताबिक श्रमबल में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए विशेष रोजगार कौशल प्रशिक्षण, छोटे शहरों में रोजगार के अवसर, बच्चों और बुजुर्गों की देखरेख के लिए केयर सेंटर, सुरक्षित कार्यस्थल जैसे प्रयास बढ़ाने होंगे। सरकारी स्तर पर प्रयास तो अपरिहार्य हैं ही, पर उससे भी अधिक उस सोच में बदलाव की आवश्यकता है जो स्त्री का दायरा घर की चारदीवारी तक सीमित रखना चाहती है।

विज्ञान की चेतना

कैलाश चंद्र काण्डपाल

वैज्ञानिक दृष्टिकोण आजकल फिर चर्चा में है। हालांकि यह एक अलग बात है कि क्या इस पर चर्चा की जरूरत है या एक अच्छा जनतांत्रिक और प्रगतिशील देश बनने के लिए इसका होना नितांत जरूरी है। अगर हम विश्व का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि इसके वर्तमान स्वरूप में होने में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यूरोपीय पुनर्जागरण के बाद इसी दृष्टिकोण से औद्योगिक क्रांति की नींव पड़ी और उसके बाद विश्व इतिहास के नए पन्ने लिखे गए, जिसमें उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद जैसे आख्यान आए और विश्व में नया आर्थिक और सामाजिक स्वरूप उभरा। इसने मात्र विज्ञान और प्रौद्योगिकी में ही योगदान नहीं दिया, बल्कि एक जीवन दर्शन भी दिया जो एक प्रगतिशील समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह बात दीगर है कि यह हमारा भविष्य भी निर्धारित करेगा।

स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए प्रतिबद्धता की बात सत्तर के दशक में शुरू हुई, जिसे 'अपोलो-11' यान के चंद्रमा की यात्रा के घटनाक्रम से भी जोड़ा जाता है। इसी दशक में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए देशव्यापी प्रचार-प्रसार देखा भी गया, जिसमें कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी दशक के उत्तरार्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को संविधान में बयालीसवें संशोधन से मूल कर्तव्यों के रूप में समाहित किया गया और स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी इसने अपनी प्रमुख जगह बनाई। इसमें इस बात को रेखांकित करना आवश्यक है कि हमारे प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रबल हिमायती थे। भारत के संविधान में उल्लिखित मूल कर्तव्यों में एक यह साफतौर पर लिखा गया है कि 'भारत का नागरिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का सुधार करे'। दरअसल, वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मूल कर्तव्य के रूप में संविधान में समाहित करने का निर्णय सतही नहीं है, बल्कि यह अपने आप में एक जीवन दर्शन है।

दुनिया मेरे आगे

वैज्ञानिक दृष्टिकोण मात्र विज्ञान विषय से संबधित नहीं है, बल्कि यह एक जीवन दर्शन के रूप में समाज को दिशा देता है। यह नागरिकों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे जिज्ञासा से प्रेरित रहें, प्रश्न करने की प्रवृत्ति बनाए रखें, तर्कशील और विवेकसम्मत बनें। तर्कशील और विवेकसम्मत समाज ही वास्तव में एक बेहतर जनतांत्रिक समाज की बुनियाद होता है। कई प्रकार से विविधता वाले देश भारत में अगर यह दृष्टिकोण प्रमुखता से अपनी जगह पाता है तो इसकी प्रगति के कई रास्ते खुलते हैं, चाहे वे एक वांछित समाज के हों या एक विकसित राष्ट्र के रूप में उभरने के। राष्ट्र के रूप में हमें यहां यह समझ लेना होगा कि हम जहां और जैसे हैं, इसका एक इतिहास है और इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। समाज में व्याप्त असमानता, अंधविश्वास आदि इसी बात के प्रमुख उदाहरण हैं कि हमारी चेतना में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अहम स्थान नहीं रखता है। आज भी अंधविश्वास के कई नमूने हमें हर रोज दिखाई पड़ते हैं। अगर हम इन असमताओं और अंधविश्वासों पर तर्क कर विवेकसम्मत तरीके से सोचें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि ये भारत के लिए वांछित समाज बनाने और इसकी उन्नति में बाधक हैं।

समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण लाने का दायित्व औपचारिक शिक्षा पर भी है और खासतौर पर स्कूली शिक्षा पर। वर्तमान में सारे प्रयासों के बाद भी स्कूली शिक्षा एक ढर्रे पर सिमटी दिखती है। अंकों की होड़ ने इसमें समझने के बजाय रटने की प्रवृत्ति को ही बढ़ावा दिया है। विषयगत अध्ययन में 'क्यों' के सवालों में बच्चे संघर्ष करते दिखाई देते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण या चिंतन इस बात को रेखांकित करता है कि औपचारिक शिक्षा के तहत विषयगत अध्ययन में जब तक 'क्यों' पर विमर्श नहीं किया जाएगा, तब तक यह दृष्टिकोण स्थापित नहीं होगा। वर्तमान स्कूली शिक्षा का ताना-बाना इसी पर बुना हुआ है और इसके लिए निर्धारित पाठ्यचर्या की रूपरेखा इस पर बात करती है। लेकिन समस्या इस पर अमल या काम करने के तरीके में दिखती है। आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वांछित स्वरूप हमें कक्षा-कक्ष की प्रक्रियाओं में नहीं दिखता है।

औपचारिक स्कूली शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक बेहतर वांछित समाज का निर्माण करना है। भारत के लिए ऐसे वांछित समाज की परिकल्पना भी भारत के संविधान में स्पष्ट की गई है कि भारत के लोग ऐसे समाज के लिए संविधान को अंगीकार करते हैं जिसमें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा हो। वास्तविक रूप में देखा जाए तो इस प्रकार के समाज को पाने के लिए हमें अभी और सायास प्रयत्न करने हैं। यह तभी संभव है जब हम तर्कपूर्ण और विवेकशील बनें और इसकी राह हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मिलती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और चिंतन हमें इस बात में मदद करेगा कि हम अपने भीतर निष्पक्ष रूप से सोचने-समझने की प्रवृत्ति विकसित करें। हमें अपने स्कूलों में बच्चों को ऐसे चिंतन में लगाना होगा, ताकि वे खुद को, अपने आसपास होने वाली घटनाओं और उनके अंतर्संबधों को तार्किक रूप से समझ सकें और इस पर अपनी तर्कसम्मत और विवेकपूर्ण राय बना कर आगे बढ़ें, ताकि वे एक जागरूक नागरिक के रूप में उभरें, न कि भेड़चाल का अनुसरण करने वाली भीड़ के रूप में।

दुरुस्त आयद

बीते दिनों विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने देर से ही सही मगर दुरुस्त कदम उठाते हुए युवाओं को सोशल मीडिया की नैतिकता और शिष्टाचार सिखाने के लिए इसे स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम का हिस्सा बना दिया है। सोशल मीडिया के दुरुपयोग को देखते हुए उसके बारे में युवाओं को जागरूक करने के लिए इस तरह के पाठ्यक्रम की आवश्यकता बड़ी शिद्दत से महसूस की जा रही थी। आजकल सोशल मीडिया आपस में लोगों के जुड़ने और संचार का प्रमुख साधन बन गया है। हमारे जीवन में उसकी निरंतर बढ़ती उपयोगिता के साथ-साथ उसका निहित स्वार्थी तत्त्वों द्वारा दुरुपयोग भी बढ़ता जा रहा है।

आज सोशल मीडिया को कुछ लोगों ने दुष्प्रचार का माध्यम भी बना लिया है जिसके कारण झूठी और नफरत फैलाने वाली खबरों की एक अलग ही दुनिया बन गई है जो समाज को बांटने और आपसी विश्वास में दरारें डालने का काम कर रही है। बड़े पैमाने पर अफवाहों, खौफ और नकारात्मक खबरों को प्रसारित-प्रचारित करने में सोशल मीडिया की भूमिका के मद्देनजर कई बार इसे नियमित और नियंत्रित करने के लिए सख्त कानून बनाने की मांग भी उठती रही है।

सोशल मीडिया में झूठी खबरों की समस्या की गहराई का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि अधिकांश परंपरागत माध्यम, जैसे रेडियो, टीवी और पत्र-पत्रिकाएं 'फेक न्यूज' यानी झूठी या फर्जी खबरों को जानने की व्यवस्था करने लगे हैं। अमेरिका जैसे देश इस मामले में अत्यंत जागरूक हैं और वहां सोशल नेटवर्किंग साइट पर नियंत्रण को लेकर पर्याप्त कदम समय-समय पर उठाए जाते हैं। भारत में भी सोशल मीडिया से संबंधित नैतिक और शिष्टाचार से जुड़े पाठ्यक्रम युवाओं की भावनात्मक और बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करने और उनमें सकारात्मक ऊर्जा का संचार करने में महती भूमिका निभाएंगे तभी सही मायने में सोशल मीडिया अपने नाम को सार्थक करेगा।

● *बिजेंद्र कुमार, आंबेडकर कॉलेज, दिल्ली*

पटाखों से परहेज

दिल्ली के मुख्यमंत्री ने अपील की है कि दिवाली पर फटाखे नहीं फोड़ें। प्रदूषण के कारण सभी को परेशान होना पड़ता है। हम सब बुराइयों का ठीकरा सरकार पर फोड़ते हैं, लेकिन अपनी जिम्मेदारियां नहीं समझते हैं। पूरे देश की जनता से उम्मीद है कि फिजा में शोर व धुआं फैलाने से तौबा करें। चाहे दिवाली हो, शादी-ब्याह हो या खुशी का कोई अन्य अवसर हो, सभी लोग पटाखे नहीं फोड़ने का संकल्प लें। अगर हमें पर्व मनाना है तो ऐसे पटाखे इस्तेमाल करें जो पर्यावरण के अनुकूल हों। सरकार को ऐसे पटाखों के बारे में जनता को जागरूक करना चाहिए। हम सभी संकल्प लें कि ऐसा कोई काम नहीं करेंगे जो वातावरण को विषैला बनाए।

● *हेमा हरि उपाध्याय अक्षत, खाचरोद, उज्जैन*

दिल्ली की हवा

दिल्ली-एनसीआर में आठ वर्ष बाद लगभग तीन महीने का समय ऐसा रहा जब हवा लगातार सांस लेने लायक बनी रही। मानसून के दौरान भी स्थिति काफी हद तक सही रही। नौ अक्तूबर तक वायु गुणवत्ता सूचकांक 173 यानी मध्यम स्तर तक था पर उसके अगले ही दिन अचानक खराब श्रेणी में पहुच गया। तब से लगातार दिल्ली की हवा में प्रदूषक कणों की मात्रा बढ़ती जा रही है। इसके आगे और बढ़ने की आशंका है क्योंकि हरियाणा में पराली जलाई जाने लगी है। मानसून के जाते ही दिल्ली के स्वच्छ हवा चली गई। अब सरकार जनता को विश्वास दिलाने के लिए कागजी कार्रवाई कर रही है। आखिर इस समस्या को गंभीरता से कब लिया जाएगा?

● *नीतीश कुमार पाठक, आश्रम, नई दिल्ली*

अश्लीलता का प्रसार

समाज के कई पहलुओं को हम फिल्मों के जरिए समझते हैं। अब ये फिल्में डिजिटल (ऑनलाइन) प्लेटफॉर्म के जरिए 'वेब सीरीज' का रूप ले रही हैं। डिजिटल प्लेटफॉर्म ने लोगों के घरों में स्मार्टफोन के माध्यम से खासी पैठ बना ली है जिसका लाभ उठाकर लगातार गाली-गलौच, नशा व अश्लील यौन संबंधी सामग्री परोसी जा रही है।

सेंसर बोर्ड से फिल्मों पर तो नियंत्रण हो जाता है लेकिन डिजिटल प्लेटफॉर्म के लिए कोई सेंसर या नियम-कानून लागू नहीं होते हैं। एक ओर सरकार पॉर्नोग्राफी वेबसाइट बंद करने का प्रयास कर रही है मगर दूसरी तरफ इन प्लेटफार्म के जरिए इसे बढ़ावा मिल रहा है। इसकी लत से युवा अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। हाल ही में बेंगलुरु के एक युवक को अस्पताल में इसलिए भर्ती कराया गया कि उसे 'नेटफ्लिक्स' की लत गई थी। ऐसी लत खासकर युवाओं को आकर्षित कर नशा और अश्लील यौन सामग्री देखने पर मजबूर कर रही है।

हाल में ही दिल्ली उच्च न्यायालय ने जस्टिस फॉर राइट्स फाउंडेशन (एनजीओ) द्वारा दायर याचिका खारिज कर दी थी पर उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति संजीव खन्ना के पीठ ने सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, विधि एवं न्याय मंत्रालय और संचार मंत्रालय को नोटिस जारी किया व नेटफ्लिक्स और एमेजॉन प्राइम वीडियो जैसे ऑनलाइन मीडिया प्रसारण की सामग्री को नियंत्रित करने के लिए दिशा-निर्देश तय करने की मांग वाली याचिका पर केंद्र से जवाब मांगा है।

● *प्रमोद पांडेय, दिल्ली*

पराली से खाद

विकास अक्सर विनाश के कंधों पर सवार होकर आता है। जब से मजदूरी ज्यादा होने के कारण और मशीनों से कटाई आसानी से हो जाने लगी, तभी से किसानों ने खेतों में पराली जलाना शुरू कर दिया। हाथ से कटाई होती थी तो भूसा बचता था और भूसा इस्तेमाल हो जाता था। अब ऐसा नहीं हो पाता और पराली जलाने से पर्यावरण को कितना ज्यादा नुकसान पहुंच रहा है इसे लेकर पर्यावरणविदों ने अभी से आगाह करना शुरू कर दिया है। दिल्ली, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की हवा जरूरत से ज्यादा जहरीली हो चुकी है।

इसे रोकने की जिम्मेदारी सरकार की है। यदि किसानों को विधिवत जानकारी दी जाए और समझाया जाए कि पराली को 'बायो कंपोस्ट' के जरिए खाद बनाकर खेत में ही फिर इस्तेमाल कर लें तो अगली फसल बिना कीटनाशक और बिना खाद के भी बहुत अच्छी हो सकती है। स्थितियां बद से बदतर हों उसके पहले ही इसके लिए सरकार को पहल करनी होगी।

● *रमेश माहेश्वरी, सुल्तानपुर*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com